IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

मैथिलीशरण गुप्त : जीवन व स्त्री-दृष्टि

डॉ उमाशंकर स्वर्णकार

(प्राचार्य)

छतरपुर विधि महाविद्यालय

छतरपुर (म. प्र.)

(प्राचार्य)

हमारे प्रथम राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने स्त्री-केन्द्रित कई प्रबन्ध काव्य लिखेः टैगोर की 'काव्येर उपेक्षिता' शीर्षक निबंध की प्रेरणा से सर्वप्रथम उर्मिला को साकेत में एक बड़ा कक्ष दिया। उसके बाद द्वापर में दासी की भूमिका में उभरी 'सैरंध्री' और 'कुब्जा' प्रखर ढंग से सामने आईं। अन्ततः यशोधरा शीर्षक से एक अलग प्रबन्ध काव्य ही लिखा। जीवन की विषम परिस्थितियों में भी ठठकर खड़ा रहने का यह जज़्बा हमारी उन पूर्वजाओं को कैसे विशिष्ट बनाता है यह रेखांकित करने के लिए उन प्रबंध काव्यों के मार्मिक प्रसंग यहाँ एकल किए गए हैं।

इन पंक्तियों के आलोक में गुप्त की नायिकाओं से मिलना अपनी ही प्रपितामहियों-प्रमातामहियों से मिल पाने-जैसा सुखद है। अपने इस जीवन में हम अधिक-से-अधिक अपनी पड़दादियों/नानियों से ही प्रत्यक्ष या (घरेलू किस्सों के सहारे) परोक्ष मिल पाते हैं। धन्यवाद गुप्त का कि उनकी नायिकाओं के बहाने हम प्रपितामहियों/मातामहियों की पूर्वजाओं से भी मिल पाए! कहने को कोई कह सकता है कि ये सभी पात्र महाभारतकालीन या छठी शताब्दी ई.पू. की हैं, पर नहीं, गुप्त ने इन्हें अपने समकाल के आदर्शों के अनुरूप कैसे गढ़ा है, यह समझना जरूरी है।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में इंग्लैण्ड भी मूल्य संक्रमण के मुद्दे पर उतने ही तनाव में था, जितना भारत। जॉन स्टूअर्ट मिल का उपयोगितावाद जाल फैला रहा था और व्यावहारिक समझौतों के महासमुद्र से आदर्श की मछलियाँ छनकर बाहर आ रही थीं। इन्हें ही नया जीवन देने के लिए साहित्य ने एक एक्वेरियम-सा तैयार किया, जो अपनी उदार भावुकता और समृद्ध विलासिता के बीच कोई स्पष्ट सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाने के कारण युगों तक नर्वस और असन्तुलित-सी तरंगें समेटे रहा। जो कारण इंग्लैण्ड को समृद्धि दे रहे थे, उपनिवेशवाद की ताकतों से जुड़े वे ही कारण भारतवर्ष के आर्थिक-सांस्कृतिक राजनीतिक अपकर्ष का कारण बने थे।

और जहाँ अपकर्ष पलता है, पुनर्जागरण की चेतना भी वहाँ समाधिस्थल प्रलयंकर-सी धीरे-धीरे आँखें खोलती है। और इस जागरण/नवजागरण/ पुनर्जागरण का नाभिकीय केन्द्र है - स्त्री चेतना का विकास।

स्त्रियों के लिए महारानी विक्टोरिया का युग खुली आँखों और बंधे पाँवों का युग था। मतदान का अधिकार नया-नया मिला था। स्त्री-शिक्षा की बेल भी मुकुलित हो गई थी। 'ब्लू स्टॉकिंग्स' और 'लेडीज़ नॉवेल पार्लर' का ज़माना था। युग के धार्मिक-ऊहापोह, आध्यात्मिक संकट का भी सबसे अधिक प्रभाव धर्मभीरु स्त्री-वर्ग पर ही पड़ा था। नवजागरण काल में प्रकाशन की सुविधा आँखों की ज्योति बनकर सामने आई थी, मगर पाँव बांधने वाले तत्व भी कम नहीं थे। स्वतंत्र निर्णय लेते हुए सार्वजनिक जीवन में प्रत्यक्ष हिस्सेदारी सम्मानजनक नहीं समझी जाती थी और सम्मान गले को ऐसा ढोल है, जो कोई जल्दी उतारना नहीं चाहता।

इंग्लैण्ड में वह एमिली ब्रॉन्टे के लिण्टनों का युग था। स्त्रियों के लिए दो ही विकल्प बच गए थे या तो वे थैकरे की एमिलिया की जैसी शर्मीली लड़की बनी घर-गृहस्थी करती हुई ड्राइंगरूम और घरेलू पार्टियों की शोभा बढ़ाएँ, या स्वच्छन्द दौड़ जाने की धुन में कदम-कदम पर फिसलें और गिर जाएँ या फिर जॉर्ज एलियट के डोरोथी ब्रूक्स की शैली में कुंठित पतियों को माताभाव में पोसने का संकल्प लें। डिकिन्स के भावुकता-भरे उपन्यासों की तो नहीं, मगर थैकरे और जॉर्ज एलियट के उपन्यासों की नायिकाएँ उस बेचैनी का सही आकलन प्रस्तुत करती हैं, जो कुंठित पतियों की अहर्निश सेवा के बावजूद मिली उपेक्षा/हिंसा/हिकारत का दाय है। शॉं, मॉम, हेमिंग्वे, लॉरेन्स की रचनाओं में भी स्त्री के एक नए रूप की झाँकी मिलती है, जो गुप्तजी की यशोधरा और विधृता की तरह पुरुष से कहीं अधिक तेजस्विनी और महिमामयी हैं। प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी शॉं की कैन्डिडा भी इस तरह की तेजस्विनी स्त्री का साक्षात प्रमाण हैं।

एक बात विचित्र यहाँ यह है, कि जहाँ तक कवियों का प्रश्न है – विक्टोरियन कवि, स्त्री के प्रति अपने दृष्टिकोण में बहुत बदले नहीं। रीतिकालीन नायिकाओं से द्विवेदीयुगीन काव्य की नायिकाएँ चाहे बहुत भिन्न हों – रोमैंटिक नायिकाओं से टेनिसन की द प्रिंसेज़ बहुत भिन्न नहीं। कमनीय सौन्दर्य तथाटियर्स आइडल टियर्स उसका केन्द्रीय आकर्षण है। ब्राउनिंग ने कुछ अधिक सप्राण नायिकाएँ दी हैं, मगर वे सब की सब गूँगी हैं। मनोवैज्ञानिक चित्रण के लिए उसके ड्रामेटिक मोनोलोग प्रसिद्ध हैं, मगर यह ध्यान देने की बात है कि सारे एकालाप, पुरुष एकालाप ही हैं और उनसे सिर्फ उनकी मनोग्रंथियों पर प्रकाश पड़ता है। इसके विपरीत गुप्तजी का साकेत लक्ष्मण-उर्मिला-संवाद से शुरू होता है और उसमें उर्मिला को भी बोल लेने की उतनी ही छूट है, जितनी लक्ष्मण को। इस संवाद में शेक्सपियर के बिएट्रिस-बेनेडिक संवाद का रस मिलता है। बिएट्रिस की तरह उर्मिला स्थान-स्थान पर अपनी विनोदवृत्ति, अपने विट् का परिचय देती है। संवाद और एकालाप का यह फर्क सिर्फ प्रबन्धकाव्य और मुक्तक की विधाओं शैलियों के फर्क की ओर इशारा नहीं करता है - यह एक विशेष मनोवृत्ति का द्योतक है।

यशोधरा और विधृता की चर्चा भी इस प्रसंग में समीचीन होगी। उर्मिला की वाणी मिली थी प्रीतिकलह के प्रसंग में, मगर यशोधरा तो घोर सैद्धांतिक विवाद के प्रसंग में भी वाणी पा गई है और कदम-कदम पर उसमें चित्रलेखा की तेजस्विता के दर्शन होते हैं। गौतम के महाभिनिष्क्रमण के बाद से तो वह स्वयं भी संन्यासिनी ही हो चली है राहुल की दी खीर नहीं खाती, सखियों से बाल कतर डालने को कहती है:

आलि, कतरी ला, मैंने क्या पाले काले व्याल

मन से भी पूरी अनुगता ही है फिर भी गौतम के बुद्ध बन लौट आने के बाद वह नदी-सी उमड़ नहीं पड़ती, सागर-सी धीर बनी रहती है और अपनी शालीन तर्कधर्मिता भी छोड़ती नहीं- हमीं गृहस्थ जनों की भिक्षा पालेगी संन्यासी ।

सीता की चार बहनों और यशोधरा के अलावा सैरंध्री, राधा, कुब्जा, शकुन्तला, कौशल्या, विधृता, हिडिम्बा आदि के माध्यम से गुप्तजी ने स्त्री- व्यक्तित्व के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डाला है - जैसे सर्चलाइट घूम- घूम कर धरती का हर कोना प्रकाशित करती है। गुप्तजी की स्त्रियाँ सजग और तेजस्वी हैं मगर नीरस, निःसत्व नहीं! पर हाँ, पश्चिम में उन दिनोंस्त्री-पुरुष के आपसी तनाव का जो चित्तण होने लगा था, वह विश्ता के सिवाय किसी के प्रसंग में प्रकट नहीं होता। इस अर्थ में वे भी कहे जा सकते हैं। सीमोन द बुवुआ परम्परावादी के आदर्श भारतवर्ष के देवीपूजक संस्कारों को पूरी तरह ग्राह्य हो भी नहीं सकते थे - वह भी एक वैष्णाव गृहस्थ को। यह अंतर्द्वन्द्व रजनी गुप्त विरचित गुप्त की जीवनी 'कि याद सब करें यहीं' में गहरे धैर्य और कौशल से रेखांकित हुआ है। गुप्तजी ने पढ़ने-लिखने में कोई रुचि न रखने वाले अपने इकलौते पुल उर्मिलेश के लिए जिस शांति का चयन किया, वह पढ़ने-लिखने में अव्वल एक ऐसी तेजस्विनी कन्या थी, जिसे कन्या विद्यालय के मंच से वे अपनी ही कविताएँ पढ़ते देख चुके थे। उनके मन में तत्काल यह साध जगी थी कि यह तेजस्विनी यदि उनकी इकलौती बहू बनकर घर आए, तो अगली पीढ़ी का भविष्य सँवर जायेगा और घर की अन्य स्त्रियों के संस्कार भी परिष्कृत हो जायेंगे। उन्होंने यह क्रांतिकारी कदम तो उठाया कि गोत्र एक होने और वर्ग भिन्न होने की बाधा उन्होंने लाँघी और गरीब घर की कन्या बिना दहेज के अपने घर ले आए। अपने भावनात्मक संरक्षण में उसे पढ़ाया- लिखाया भी पर महाविद्यालय भेजकर पढ़ाने और नौकरी करने देने की हिम्मत नहीं जुटा पाए। घर की स्त्रियों से पर्दा भी नहीं कराया और उनके स्वास्थ्य की चिंता से भी जूझते रहे। जच्चा-बच्चा की उचित देख-रेख कर पाने वाले अस्पताल के अभाव में कम उम्र की लकड़ियाँ प्रसूतिगृह में ही स्वर्ग सिधार जाती थीं। स्वयं इनकी दो पत्नियाँ और सात बच्चे बचपन में कालकवलित हो गए। फिर भी स्कूल में पढ़ने वाली एक किशोरी इनकी बहू बनी। बहू की तीन बेटियाँ ही हुईं संयुक्त परिवार में इसका मातम मना पर अपनी पोतियों और बहू के साथ इनके सम्बंध मातृवत ही रहे। अज्ञेय के उपन्यास पढ़ते हुए उन्हें स्त्री की स्वतंत्र यौनइयत्ता का चित्रण चौंका गया। पर बाद के वर्षों में वे इस प्रश्न पर सोचते पाए गए या आखिर स्त्रियाँ भी मनुष्य ही हैं। ये सारे तथ्य जो रजनी गुप्त ने मार्मिकता से उकेरे हैं - उनके द्वन्द्वसंकुल मन पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। स्त्री सम्बंधी उनके अपने मानसिक पर्यावरण का क्रमशः कैसे परिष्कार होता गया, इसका भी सम्यक चित्रण रजनी गुप्त ने किया है:

"नए ज़माने में लड़के-लड़कियों की सहशिक्षा का ज़ोर बंगाल महाराष्ट्र से होते हुए पूरे देश में तेज़ी से फैलता जा रहा था। सहशिक्षा ने उनके बीच की झिझक और संकोच की दीवारें गिरा दी थीं। उनके पाँव सहज- स्वस्थ मैत्री की तरफ आगे बढ़ने लगे। हवा के ताज़े झरोखे की तरह बेरोक- टोक ढंग से हाथों में हाथ डाले लड़के-लड़कियाँ शहरों में तो दिखाई देते ही... समानता, स्वतंत्रता और निजता के बीज भी स्त्री चेतना में पड़ गए थे।... पंडित नेहरू अपनी इकलौती बेटी इंदिरा को विदेश भेज चुके थे। सरोजिनी नायडू, विजयलक्ष्मी पंडित, महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी, मीना कुमारी, मधुबाला, कानन देवी, सुबुलक्ष्मी उच्चकोटि की कलाओं संगीत, अभिनय, गायन, लेखन और राजनीतिक नेतृत्व के क्षेत्र में आगे आ रही थीं।"

गुप्तजी के स्त्री विषयक प्रसंगों में आधुनिकता का सही बिम्ब देने वाले जो प्रसंग हैं, उनकी मैं संक्षेप में चर्चा चाहूँगी। साकेत के नवम सर्ग में उर्मिला पुरबालशाला खुलवाकर शिक्षिका बनने तक की बात कहती हैं-

मैं निज ललितकलाएँ भूल न जाऊँ वियोग-वेदन में सखि, पुरबाला-शाला खुलवा दें क्यों न उपवन में।

सप्तम सर्ग में वशिष्ठ हाहाकार करती रानियों को समझाते हैं-

देवियो, ऐसा नहीं वैधव्य भाव भव में कौन ऐसा भव्य ।

द्वापर में विधृता कहती है-

कामुक चाटुकारिता ही थी/क्या वह गिरा तुम्हारी- एक नहीं, दो-दो मात्राएँ/नर से भारी नारी।

प्रथम सर्ग में उर्मिला अपना अधिकार प्रकट करती हुई कहती है-

दास बनने का बहाना किसलिए, क्या मुझे दासी कहाना इसलिए।

एकपत्नीव्रत भी आधुनिकता का बहुत बड़ा साक्षी है, युगों तक हरम या अंतःपुरम की एक पालतू हिरणी ही रही नारी! द्वाद्वश सर्ग में एकपत्नीव्रत की

सात्विक शक्ति लक्ष्मण के इस कथन में मूर्तिमान है-

यदि सीता ने एक राम को ही वर माना, यदि मैंने निज वधू उर्मिला को ही जाना तो बस, अब तू संभल ।

गुप्तजी यह नहीं मानते कि स्त्री हीन है और पुरुष कितना भी दोषी हो - स्त्री से श्रेष्ठ और प्रत्येक दशा में आदरणीय है। कालिदास के 'शकुन्तलायः पाद्यों प्राणिपथ' का आदर्श उनके भी नायक स्त्री के कदमों पर गिरकर चरितार्थ करते हैं।

पैरों पर गिर पड़े प्रिया के भूपवर- शकुन्तला ने कहा क्षमा का रूप धर- उठो नाथ, वह कुछ न तुम्हारा दोष था, मुझ पर ही अज्ञात दैव का रोष था।

यशोधरा में गौतम तक झुकते हैं-

क्षमा करो सीदार्थ शाक्य की निर्दयता प्रिय जान

गुप्त के समय तक - राममोहन राय, गांधी, रवीन्द्र, अरविन्द घोष के सजल-सप्राण दर्शन पश्चिम के तर्ज में भारत में स्त्री-जागरण का शंखनाद कर गये थे। राजनीति तक में प्रवेश के लिए स्त्रियाँ तत्पर थीं और वैदिक स्त्रियों का आदर्श भी उनके सामने था। जो स्त्री वीरगाथाकाल में सूक्ष्म- सी प्रेरणा थी, भक्तिकाल में ठगिनी माया बनी और रीतिकाल में केवल काया रह गई। भारतेन्दु-युग की विवश शैव्या ने क्रमशः शक्ति विस्तार किया, तब जाकर अंततः द्विवेदी युग में हर तरह का दायित्व वहन कर पाने वाली पूर्ण मानवी का बिम्ब पा सकी। हरिऔध की राधा, गुप्तजी की सीता, उर्मिला और यशोधरा (इब्सन और शॉ की नायिकाओं की तरह) पति से पूर्णतया निरपेक्ष/उन्मुक्त व्यक्तित्व तो नहीं रख पातीं - फिर भी पारस्परिक नायिकाओं की तुलना में काफी हद तक स्वर्तल, स्वावलंबी, आत्मसम्मान-प्रिय, गम्भीर, कर्मठ और महिमामयी हैं। वड्र्सवर्थ या डिकिन्स की तरह गुप्तजी सामान्य ग्रामवाला, वीरांगना या गृहवधू का चित्त्ल नहीं देतेः

राजकुमारियाँ ही अधिकतर नायिकाएँ हैं पर उनके चित्रण की विशेषता यह है कि उनकी राजकुमारियाँ मध्यवर्गीय, संघर्षलिप्त स्त्री की छवि देती हैं (प्रसंगः 'जिनज सौध सदन में उटज पिता ने छाया') और उनमें किसी तरह का गुरु-गहन दायित्व वहन कर लने की क्षमता है। गांधीवादी प्रभाव में वे सभी त्याग और स्वावलम्बन की मूर्ति है।

किसी भी व्यक्ति को महत्व देने का सीधा अर्थ है उस पर किसी भी तरह का दायित्व सौंपकर पूरी तरह निश्चिन्त हो लेना। सीता, उर्मिला और यशोधरा - गुप्तजी की तोनों प्रमुख नायिकाओं के पति मन-ही-मन इतना समझते हैं कि लौकिक मर्यादाएँ ये अकेली भी निभा लेंगी, राहुल की ओर से गौतम का निश्चिन्त होना, माता-पिता घर की देखभाल की तरफ से लक्ष्मण का, कोल-भील आदि वनजातियों के स्वागत की ओर से राम को आश्वस्त होना कहीं-न-कहीं पत्नी के स्वतंत्र व्यक्तित्व की क्षमताओं की ओर उनके गहरे विश्वास का संकेत है। कहने को यशोधरा कहती हैं-

सखि, वे मुझसे कहकर जाते

मगर इतना तो वे समझती हैं कि उनकी सतेज आँखों का सामना कर पाएँ - वैराग्य के प्रथम प्रहर में गौतम इतने मजबूत और मोहातीत नहीं हो गए होंगे। नल और मनु की परम्परा में उनका चोरी-छुपे जाना (एक तरह से) यशोधरा के प्रति उनकी दुर्दम्य आसक्ति का ही द्योतक है।

स्वतंत्रता संग्राम में उलझे पुरुषों ने पहली बार सार्वजनिक जीवन में भी स्त्रियों के सहयोग की आवश्यकता अनुभव की। उन्हें यह लगा कि देश के अर्धांग को निष्क्रिय रखकर आगे बढ़ पाना कठिन है। तत्कालीन काव्य में स्त्री-मुक्ति का स्वर जो विशेष रूप से मुखरित हुआ - इसका प्रमुख कारण यही लगता है। गांधीजी तीक्ष्णबुद्धि थे- स्त्री के विषय में उनका दृष्टिकोण अकारण उदार था ऐसा नहीं दीखता। वैसे, हिन्दी साहित्य में 1917-18 से अब तक जो कुछ भी अन्याय के विरोध, ब्रिटिश शासन की प्रतिक्रिया और मानव-गौरव के समर्थन में लिखा गया – मुख्यतः वह गांधीजी का ही दाय है। महात्मा गांधी और हिन्दी के राष्ट्रीय साहित्य के पीछे जो प्रेरणा और परिस्थिति कार्य कर रही थी, वह थी उन्नीसवीं सदी का सांस्कृतिक जागरण। कवियों ने अतीत गौरव का गुणगान कर भारत की प्रसुप्त जनता में जागरण का शंखनाद करने का जो दायित्व संभाला था, उसके तहत अतीत के कर्तव्यनिष्ठ चरित्रों का काव्यांकन किया जाने लगा। इस क्रम में राम, कृष्ण, बुद्ध आदि आदर्श पुरुषों के ही चरित्र नहीं अंकित किए गए - सीता, राधा, द्रौपदी, लक्ष्मीबाई, दुर्गावती, पन्नाधाय आदि प्राणवान नारी-चरित्र भी फलक पर आए। यह युग जागरण और सुधार का युग था, इसलिए उर्मिला, यशोधरा आदि उपेक्षित और कैकेयी जैसे लांछित स्त्री-चरित्र भी कवि रवीन्द्र की प्रेरणा से उत्कर्षमय रूप में प्रतिष्ठित हुए और वैदिक युगीन विदुषी नारियों का भी स्मरण दिलाया जाने लगा – वह मैत्रेयी-गार्गी का पावन जीवन निष्काम।

चाहे यह विरोधाभास-सा लगे, पर सत्य तो है कि भारत में विदेशी राज्य के कारण ही हमें पुनरुत्थान की प्रेरणा मिली। बीसवीं सदी के उषा- काल में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार प्रारम्भ हो गया था। एक ओर राजनीतिक स्वतंत्रता की चाह उठ रही थी, दूसरी ओर नई शिक्षा के सम्पर्क से व्यक्ति- स्वातंत्र्य की भावना भी विकसित होने लगी थी। लॉर्ड मेकाले ने 1834 में भारत में भूरे अंग्रेजों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी तैयार करने की सफल योजनी बनाई।

कवियों ने स्त्री को 'पूज्या' कह उसकी प्रसुप्त शक्तियाँ जगानी चाहीं ! नाथूराम शर्मा 'शंकर', श्रीधर पाठक, महावीर प्रसाद द्विवेदी, हरिऔध, गुप्त जी आदि ने आर्य महिला आदि पत्रिकाओं विधवा-दुर्दशा, बाल- विवाह विरोध, पर्दाप्रथा

स्त्री-अशिक्षा सम्बन्धी जो कविताएँ लिखीं - वे तत्कालीन (आर्यसमाज आदि) संस्थाओं के विचारों से अनुप्रेरित थीं। स्त्री की दशा में सुधार के लिए और भी कई लेख तत्कालीन पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए।

कवियों के लिए स्त्री अब रति की प्रतिकृति नहीं रह गई थी, तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार, उसके स्त्रीत्व की सार्थकता भी कर्तव्यनिष्ठा और देशप्रेम में आंकी जाने लगी। 'यदि शक्ति का अर्थ पाशविक शक्ति है, तब

तो नारी सचमुच ही पुरुष से कम पाशविक है और यदि नैतिक शक्ति है तब नारी पुरुष से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।' कथन के आलोक में स्त्रियों का मूल्यांकन होने लगा था। शक्ति का अर्थ गांधीजी के इस ऐसा नहीं है कि महिमामय पुरुषों की पत्नियों के कारण ही गुप्तजी के नारी चरित्रों की महिमा हैं, यदि वे साधारण व्यक्तियों की पत्नियाँ होतीं तो भी उनके जो चारित्रिक गुण हैं विनोद-वृत्ति, बुद्धिमत्ता, त्याग, धीरज, स्वाभिमान, स्वावलम्बन और कर्तव्यनिष्ठा वे उन्हें विलक्षण व्यक्तित्व देते। यह अवश्य है कि महान व्यक्तियों के जीवन के विलक्षण प्रसंगों (वन- गमन, संन्यास आदि) से उनके चरित्र के गुण ऐसे उद्भासित हुए हैं जैसे उत्तल काँच से झांकती सतरंगी किरणें। जैसे हवा का तीव्र प्रवेग फूल की सुरभि विस्तीर्ण करने में सहायक ही होता है विपरीत परिस्थितियाँ आंतरिक गुणों के उद्घाटन में।

तो यहाँ मेरी केन्द्रीय मान्यता यह है कि पश्चिम स्त्री-विषयक उदारताओं के लिए भले ही प्रसिद्ध हो, पुनरुद्धार की प्रेरणा हमें भले ही पश्चिम से मिली हो, पर पश्चिम का काव्य कम-से-कम (उपन्यासों की बात नहीं कह रही) स्त्री को बाहर-भीतर पूरी समग्रता में, इतनी जीवन्तता के साथ चित्रित नहीं कर पाया - जितना हमारा काव्य। विशेषकर समकालीन विक्टोरियन, जॉर्जियन काव्य में कहीं भी स्त्री का न वैसा तेज झाँकता है, न आत्मिक शक्ति जो हरिऔध की राधा, गुप्त जी की यशोधरा, विधृता और प्रसाद की इड़ा-श्रद्धा में दृष्टिगत होता है।

सच पूछिए तो स्त्री का हृदय शीशे की छत वाला मिट्टी का मकान होता है। इसमें बोए नीति-प्रीति, मान-अपमान के बीज मुरझाते तो नहीं मगर बढ़कर आकाश सिर पर भी नहीं उठा लेते! अन्दर ही अन्दर शाखाओं से फूटते हुए भी विनम्र-भाव से सिर झुकाए रहते हैं। कोई विरला ही बाहर समतल पर खड़ा अंदाज़ कर सकता है कि भीतर भावों की पूरी एक पंचवटी खड़ी है, तनावों का पूरा एक लुम्बिनी-वन। स्त्री मनोविज्ञान की पकड़ के लिए दृष्टि की ऊँचाई चाहिए जो छत के शीशे के पार झाँक सके। यह कितना कठिन है - इसका साक्षात प्रमाण है, यह तथ्य कि साहित्य के आदिकाल से लेकर भारतेन्दु युग तक या इधर पश्चिम में शेक्सपीयर

को छोड़ दीजिए मगर उसके अलावा चॉसर से लेकर उन्नीसवीं सदी तक स्त्री की सिर्फ काया ही देखी गई। उसके भीतर झांकने की कोशिश कम हुई और उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व आँकने की और भी कम। शेक्सपियर के सॉनेट भी स्त्रियों के प्रति हजार शिकवों से भरे हैं। जिन लोगों ने चरित्र आँका भी, वे नकरात्मक पहलुओं की ओर अधिक सतर्क रहे, भारतवर्ष में भी कमोबेश स्थिति यही रही। गुप्तजी का सबसे बड़ा योगदान यह है कि अपने आदर्श बंधु जयशंकर प्रसाद की तरह उन्होंने स्त्री के महामंगल, तेजस्विनी रूप का पूरी अंतरंगता से स्वतंत्र चित्रण किया – मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता के साथ।

समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक – दोनों ही दृष्टियों से गुप्तजी का स्त्री चित्रण एक वैष्णव मन की सुभग शुभाकांक्षा है, जिसमें प्राचीन और नवीन के मणिकांचनसंयोग का संकल्प फूलता-फलता दिखाई देता है! आनन्दवर्द्धन ने ऐसे सभी पाठों को 'अयोनिपाठ' कहा है, जिसकी ध्वनि युगों तक अनुगूंज नहीं छोड़ पाए, हर युग में जिसकी अनुगूंज एक नया पाठ नहीं सिरजे अपने मूल पाठ का! आज के युग में इस 'ध्वनि' को हम

अंतःपाठ की तरह भी पढ़ सकते हैं और यही बात पलटकर ऐसा कह सकते हैं कि जो पाठ आने वाले युगों में अंतःपाठीय सम्वाद की प्रेरणा नहीं जगाते, अयोनि-पाठ हैं। सुभग पाठ, उर्वर पाठ वही हैं जो हर युग में अपना एक नया भाष्य तैयार करने लायक अनुगूंजें छोड़ें। हमारे आर्षग्रन्थ - खासकर रामायण और महाभारत तो ऐसे पाठ हैं ही, अश्वघोष का बुद्धचरित भी एक ऐसा पाठ है जिसकी अनुगूंजें यशोधरा में हैं पर एकदम नए रंग में अवतरित ! जैसे वाल्मीकि की रामायण से मर्यादा-भंग के सारे प्रसंग हटाकर तुलसीदास ने एक ऐसा मर्यादित पाठ तैयार किया, जिसमें सीता निष्कासन, शम्बूक-वध आदि अप्रिय प्रसंग खरहे के सींग की तरह गायब थे, गुप्त ने भी बुद्धचरित के अमर्यादित प्रसंग हटाकर बुद्ध और यशोधरा - दोनों को नवजागरण के आदर्शों में 'फ्रेम' किया कैसे? अंत में हम थोड़ी चर्चा इस पर करना चाहेंगे !

अश्वघोष के 'बुद्ध' वाल्मीकि के 'राम' की तरह किंचित रुक्ष और कामकाजी किस्म का सम्बन्ध स्त्रियों से रखते हैं और जब वे उद्विग्न हों तो अपनी पत्नी के प्रति भी उनके माधुर्य का लोप हो जाता है। गुप्त के यहाँ राम-लक्ष्मण- कृष्ण और बुद्ध अधिक मानवीय हैं। फिलहाल यशोधरा के संदर्भ में ही बात आगे बढ़ाएँ तो साफ समझ में आएगा कि युग के आदर्शों के अनुकूल कितने सुभग परिवर्तन राष्ट्रकवि ने बुद्ध के चरित्र में दिखाए और यशोधरा में सावित्री ओर पोर्शिया का मणिकांचन मेल घटित करके उसे और गौवरमय कैसे बनाया।

अश्वघोष के बुद्ध नृत्यशाला में मदिरा-शिथिल स्त्रियों की अस्त-व्यस्तता देख विषन्न हो जाते हैं:

नशे में सराबोर

सोई थीं ये स्त्रियाँ ऐसे जैसे कि अंधड़ से पिटा हुआ कमल-दल सरोवर में- हाथ-पाँव खुले हुए, गुप्तांग उघरे, मुँह से टपकती हुई राल, बुद्ध विषन्न हुए !

बांस की फोफी लिए एक रमणी इस तरह लुढकी पड़ी थी विवस्त्र जैस कि कोई नदी बावरी जिसके कमलों पर काले भँवरें

पंक्तिबद्ध खड़े भुन-भुन-भुन करते !

हंस रहे थे उसपर उसके किनारे ही-

फेन की हंसी बुद-बुद, बुद्ध विषन्न हुए।

(सर्ग- 5, बुद्धचरित, अश्वघोष, अनुवाद अनामिका)

और इस विषन्नता की पराकाष्ठा यह कि बुद्ध वन की ओर निकलने को उद्यत हो जाते हैं - नृत्यशाला से सीधा वन की ओर। सथः प्रसूता, शिथिलगात यशोधरा के कक्ष की ओर बढ़ते भी नहीं!

ऐसी रुक्षता नवजागरण के आदर्शों के प्रतिकूल थी खासकर गुप्त के आदर्शों के प्रतिकूल जिन्होंने एक-पर-एक सात संतानें और दो पत्नियाँ प्रसूति-गृह में ही खो दी थीं! उनकी अपनी नवासी रजनी गुप्त ने उनकी संवेदनशील जीवनी का आरम्भ ही नवजातकों के शोक से संतप्त गुप्त- दम्पती की मीठी, विवश, मार्मिक आपसदारी के हृदयग्राही दृश्यों के जीवन्त चित्रण से किया है। प्रसूति गृह पर मौत की दारुण छाया कैसे मंडराती रहती थी और कभी जच्चा कभी बच्चा उसके चपेट में आ ही जाते थे, तो कैसा दारुण शोक वर्षों आंगन मुंडेर-छत पर मौन सिसकता रहता था - इसका संघनित चित्र आंकने में रजनी का कथाकार अपनी पूरी विभुता में सामने आया है।

स्वाभाविक है कि नवप्रसूता के प्रति गुप्त के सिद्धार्थ अधिक संवेदनशील हैं और जब वे बुद्ध बनकर वापस कपिलवस्तु लौटते हैं, तब तो मुखर रूप से यशोधरा के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि उन्हीं का प्रताप है कि वे संबुद्ध हो पाए -

तुम तो यहीं थी, धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ जूझा, मुझे पीछेकर, पंचशर वीर से, मेरे निकट तुम्हारी तुलना में अन्य कौन सुकुमारी ! दीन न हो, गोपे, हीन नहीं नारी कभी भूतदयामूर्ति वह मन से, शरीर से। क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेष जब मुझको बचाया मातृजाति ने ही खीर से !

रजनी गुप्त की जीवन में इसका भी सरस वर्णन करती हैं कि भूख गुप्त को कैसी छनाक लगती थी - ख़ासकर बासी पूड़ियों और उबले आलुओं की सूखी सब्जी की भूख ! 'क्षुधा रूपेण संस्थिता' मातृजाति का वैभव गाते हुए

वे स्त्री-जाति की आत्मिक क्षुधा की गहन समझ भी रेखांकित करते चलते है। सबका पेट भरनेवाली स्त्री के अपने मन की भूख बस एक कृतज्ञ दृष्टि से मिट जाती है और प्रेम के दो बोलों से। नवजागरण कालीन पुरुष के प्रतिरूप बुद्ध कृतज्ञता के ये दो बोल उचारना नहीं भूलते। सिद्धार्थ जब बुद्ध-रूप में कपिलवस्तु आते हैं, यशोधरा उनसे मिलने महल नहीं जातीं, बुद्ध ही उनसे मिलने कक्ष तक आते हैं:

बुद्ध की तपोपूत दृष्टि यशोधरा का मूक तप भी अच्छी तरह भाँप लेती है - कितना कठिन रहा होगा एक पितृहीन बालक के तरह-तरह के प्रश्नों का समाधान, अकेले उसे पालना, पालकर ऐसा वरेण्य, मूल्य- सजग किशोर बना देना जिसके मन में पिता के प्रति शिकायत का कोई रेफ भी नहीं हो !

आज भी अकेली माँओं के सम्मुख सबसे बड़ी चुनौती यही होती है कि अकेला छोड़ गए पिता के प्रति बच्चे के मन में उपज आई सहज कटुता कटे तो कटे कैसे ! गुप्तजी की यशोधरा के सौन्दर्य का मर्म उसके संतुलन में है - न ही उसने यथास्थितिवादी सर्वस्वीकार है, न क्रांतिकारी कटुता ! जब दूसरे लोग बुद्ध को निर्दय बताते हैं, वह आगे आकर उनको बचाती हैं:

सारा विश्व जिनका कुटुम्ब है, उसे जन्मभूमि का बन्धन कैसे बांध सकता है! मैं कहती हूं, राहुल के जन्म ने उन्हें अमृत की प्राप्ति का लिए और आतुर कर दिया। पर अब ये बातें रहने दो, वह आता होगा। मैं उसके सामने हंसती ही रहना चाहती हूँ। आँसू आ जाते हैं तो उसे कष्ट होता है! वह अब समझने लगा है।

उन्नीसवीं शती के अवसान और बीसवीं के उत्थान के समय कहने को तो बहुतेरे अनुसन्धान हुए, पर उनमें महत्तम था औरत का आत्म-सन्धान, उसकी अपनी अस्मिता का निवेश बृहत्तर प्रयोजनों में! यशोधरा भी एक

स्वाभिमानी स्त्री है और वह इतनी आधुनिक भी है कि अपने दुख को अपनी निजी थाती समझे, उसका सार्वजनिक प्रदर्शन उसे शालीन न जान पड़े ! दुःख के इस निजी कक्ष में राहुल को भी वह झांकने नहीं देती !

हैमलेट की तरह मानसिक उद्वेग और ऊहापोह के क्षण वह एकालापों में ही प्रकट करती है, पर उसकी तरह वह आपा नहीं खोती, और अपनी तार्किकता बनाए रखती है! इस तरह वह साड़ी में लिपटी पोर्शिया नज़र आती है - नवजागरण-कालीन स्त्री का आदर्श, एक ऐसी स्त्री जिसमें सावित्री का समर्पण हो और पोर्शिया की तेजोमेयता। सिर्फ एक बार वह अपनी सखी, गौतमी से मन की बात कहती है-

सखि, वे मुझसे कहकर जाते !

और सभी अवसरों पर वह गृहस्थ संन्यासी का वैष्णव मत सुलझे दंग से सामने रखती है:

क) जल में शतदल तुल्य सरसते, तुम घर रहते, हम न तरसते !

ख) निज बन्धन का सम्बन्ध सयत्न बनाऊँ, कह मुक्ति भला किसलिए तुझे मैं पाऊँ ?

ग) सहे आज यह मान तितिक्षा क्षमा करो मेरी यह शिक्षा, हमीं गृहस्थ जनों की भिक्षा पालेगी संन्यासी।

ऐसे प्रखर तर्क रखती-रखती वह कभी तो भ्रमरगीत की गोपियों का तंज भी कर देती है, पर अधिकतर, ख़ासकर अपनी ससुराल के बुजुर्गों से वह सविनय अवज्ञा की भाषा ही बोलती है। 1933 में पुस्तक छपी थी, पर लिखी तो गई थी 1930-32 के बीच ही, जब सविनय अवज्ञा आंदोलन अपनी पराकाष्ठा पर था ! तो सास-ससुर जब गौतम से मिल आने की बात कहते हैं, वह कहती है कि जो छोड़ गया, मिलने भी वही आएगा-देखेगा कि उसके अधूरे छोड़े काम मैंने किस गरिमा से पूरे किए हैं!

इतने दिन प्रतीक्षा की है, इसलिए रवि वर्मा की पेंटिंगों में जो प्रतीक्षारत

रूपगर्विताएँ थीं - उसका प्रतिरूप बनती हैं यशोधरा यशोधरा ही नहीं,

नवजगागरणकालीन सब स्त्रियाँ। उन्होंने प्रतीक्षा की है कि पुरुष योग्य बनकर घर लौटें और फिर बृहत्तर संसार के लिए दोनों मिलकर कुछ करें: 'दे ऑल्सो सर्व हू ओन्ली स्टैण्ड एण्ड वेटं !' मिल्टन के इस कथन का मर्म वे भलीभाँति पहचानती हैं। और शांति काकी के सूक्ष्म ग्राफांकन में इसका मर्म पहचानती हैं – विशिष्ट कथाकार और जीवनीकार रजनीगुप्त !

-